जैन-न्याय में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तथा तर्क

डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा
वाराणसी...

जैन एवं जैनेतर-दर्शनों में-स्मृति संबंधी अनेक चर्चाएँ मिलतीहैं। व्यवहार में भी स्मृति एक परिचित विषय के रूप में देखी जाती है। किन्तु यह ज्ञान का प्रमाण बन सकती है अथवा नहीं? इसके संबंध में विभिन्न मत देखे जाते हैं। किसी ने इसे प्रमाण माना है तो किसी ने इसे प्रमाण मानना दोषपूर्ण कहा है। कहीं-कहीं दृष्टिकोण-भेद से दोनों बातें मानी गई हैं, अर्थात् एक दृष्टि से यह प्रमाण हो सकती है, परंतु दूसरी दृष्टि से यह अप्रमाण है। इस प्रकार स्मृति एक समस्याजनक विषय है।

जैन-दर्शन में परोक्ष प्रमाण के पाँच भाग माने गए हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम। किन्तु वादिराजसूरि के द्वारा परोक्ष प्रमाण का जो विभाजन प्रस्तुत किया गया है वह कुछ भिन्न है। उसके अनुसार - अनुमान के दो भेद होते हैं-मुख्य तथा गौण। गौण अनुमान के तीन प्रकार होते हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तथा तर्क।[1] इसके अलावा उन्होंने यह भी माना है कि स्मृति प्रत्यभिज्ञान का कारण है, प्रत्यभिज्ञान तर्क का कारण है और तर्क अनुमान का कारण है। संभवतः इसीलिए सूरिजी ने इन्हें भी अनुमान की कोटि में रखा है। उन्होंने आचार्य अकलंक की रचना 'न्याय विनिश्चय' पर टीका लिखी है। अतः उन पर अकलंक का प्रभाव रहा हो, ऐसा संभव है। ऐसा ही सोचते हुए उनकी प्रमाण-विभाजन-प्रक्रिया के संबंध में पं. कैलाशचंद्र शास्त्री ने लिखा है-[2] न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में अकलंक ने क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण का ही कथन किया है। अतः वादिराजसूरि ने परोक्ष के अनुमान और आगम भेद करके शेष तीन परोक्ष प्रमाणों को अनुमान में गर्भित कर लिया प्रतीत होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी ने स्मृति को परिभाषित करते हुए कहा है[3]- संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। संस्कार के उद्बोधित होने पर प्राप्त होने वाला ज्ञान स्मृति है। भूतकाल में व्यक्ति को जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे उस पर अपना संस्कार अंकित कर जाते हैं जिसके कारण अनुभव-काल समाप्त हो जाने के बाद भी उसके मानस-पटल पर पूर्व अनुभव की रेखाएँ बनी रहती हैं और वह कह बैठता है- दह। दह शब्द उसके पूर्व अनुभव को सूचित करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है[4]-

'वासनोदबोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः।

वह ज्ञान जो वासना के उद्बोध के कारण उत्पन्न होता है उसे स्मृति कहते हैं। संस्कार और वासना दोनों ही शब्द उस छाप को इंगित करते हैं जो व्यक्ति पर पूर्व अनुभव के फलस्वरूप पड़ी होती है। कोई व्यक्ति आगरा जाता है और ताजमहल देखता है। उसके मन पर ताजमहल के रूप-रंग, आकार-प्रकार की एक छाप पड़ जाती है, जिसके फलस्वरूप अपने घर आने पर, यद्यपि ताजमहल उसके सामने नहीं होता है, वह अपने पड़ोसियों को उसके विषय में सभी बातें सुनाता है। दो वर्ष, चार वर्ष या उससे भी अधिक समय व्यतीत होने पर जब भी वह आगरा की चर्चा सुनता है उसके मानस पर ताजमहल की रूपरेखा चमक उठती है। उसे लगता है, जैसे ताजमहल उसके सामने खड़ा है। यही संस्कारगत या वासनागत ज्ञान है। जिसे स्मृति कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भी इसका विश्लेषण प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार[5] प्रत्यक्ष अनुभव की धारणा, प्रत्यस्मरण तथा प्रत्यभिज्ञा के माध्यम से स्मृति की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। जैन-दर्शन स्मृति के कारण स्वरूप, संस्कार या वासना पर अधिक बल देता है जिसका उद्बोध समानता, विरोध, आवश्यकता आदि विभिन्न कारणों से ही है।

स्मृति के रूप--भारतीय दर्शन में स्मृति के दो रूप देखे जाते हैं-

१. ग्रन्थरूप-वैदिक साहित्य में श्रुति और स्मृति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ऐसे ग्रन्थ है जिनके अध्ययन के बिना वैदिक धर्मदर्शन का ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। अतः इनके संबंध में भी यह समस्या उठती है कि इन्हें प्रमाण की कोटि में रखा जाए अथवा अप्रमाण की कोटि में? चूँकि यह समाज के सामने खुले रूप में है, इसलिए इसे यदि स्मृति का सामाजिक रूप कहें तो अनुचित न होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अनुभवरूप-यह स्मृति का वह रूप है, जिसके संबंध में माणिक्यनन्दी, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। यह हमारे अनुभव का विषय है। यह व्यक्ति के अनुभव पर आधारित होता है, इसलिए इसे स्मृति का वैयक्तिक रूप कह सकते हैं।

जैनेतर मान्यताएँ वैदिक - स्मृति प्रमाण है कि नहीं? इसका समाधान करते समय पहले ग्रन्थ रूप स्मृति सामने आती है। इसके संबंध में डॉ. महेन्द्रकुमार जैन की उक्ति है[६]--वैदिक परंपरा में स्मृति को स्वतंत्र प्रमाण न मानने का एक ही कारण है। यदि एक जगह भी उसका प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, तो वेद की अपौरूषेयता और उसका कर्म विषयक निर्बाध अंतिम प्रामाण्य समाप्त हो जाता है।

इस कथन से तो ऐसा लगता है कि स्मृति सर्वथा अप्रमाण है। किन्तु आगे वे यह भी प्रस्तुत करते हैं कि स्मृतियाँ जहाँ तक श्रुतियों का अनुगमन करती है वहाँ तक प्रमाण है अन्यथा अप्रमाण है। दरअसल स्मृति की प्रमाणता-अप्रमाणता संबंधी चार कोटियां बनती हैं जो इस प्रकार है--

१. स्मृति यदि वेदानुगमन करती है तो वह प्रमाण है।

२. स्मृति में यदि कोई सिद्धान्त प्रतिपादित है किन्तु वेद में वह नहीं है तो भी वह प्रमाण की कोटि में आ सकती है।

३. स्मृति में प्रतिपादित सिद्धान्त वेद में है अथवा नहीं, किन्तु उससे वेद का किसी प्रकार से विरोध नहीं हो रहा है तो उसे प्रमाण कहेंगे।

४. वेद में जो कुछ कहा गया है उसका विरोध यदि स्मृति के द्वारा हो रहा है तो ऐसी स्थिति में स्मृति प्रमाण नहीं मानी जाएगी।

स्मृति ग्रन्थ रूप में प्रमाण है उसकी जानकारी इस मान्यता के आधार पर भी होती है--

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
यतत् चतुर्विधम् प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्।।

अर्थात्, वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मा को जो प्रिय लगे, ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।यहाँ पर स्मृति को वेद के समान ही मान्यता दी गई है। इसके अलावा वेद ईश्वरोक्त होने के कारण प्रमाण है तथा स्मृति आप्तोक्त होने के कारण प्रमाण की कोटि में आती है।

न्याय तथा भाट्ट मीमांसक--अनुभव रूपी स्मृति के संबंध में इनके विचार इस प्रकार हैं--

१. स्मृति यदि यथार्थ अनुभव को उपस्थित करती है तो वह प्रमाण है।

२. स्मृति यदि अयथार्थ अनुभव को प्रस्तुत करती है तब वह अप्रमाण है।

३. स्मृति यदि यथार्थ अनुभव की अन्यथा उपस्थिति है तो वह प्रमाण नहीं हो सकती।

प्राभाकर मीमांसक-इनके अनुसार कोई भी ज्ञान अयथार्थ नहीं होता। स्मरण आदि ज्ञान भी अयथार्थ नहीं होते।

बौद्ध-यह क्षणभंगवाद का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक नहीं रहती। स्मृति भूत की याद दिलाती है। यह बौद्धदर्शन के अनुसार संभव नहीं है। क्योंकि जिस समय वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है वह क्षणभर बाद ही समाप्त हो जाती है और जो कुछ भी हमें ज्ञान होता है, वह अनुमान के रूप में होता है अथवा अनुमान के माध्यम से होता है। अतः स्मृति अलग प्रमाण नहीं बन सकती।

स्मृति के संबंध में यह समस्या आती है कि यह अनुभूत ज्ञान को प्रस्तुत करती है अथवा ज्ञानमात्र इसका विषय है। यदि यह अनुभूत विषय को प्रस्तुत करती है तो ऐसा देखा जाता है कि एक ही वस्तु या विषय की अनुभूति दो व्यक्तियों को होती है। ऐसी स्थिति में एक ही विषय किसकी स्मृति के रूप में प्रस्तुत होगा। यदि स्मृति ज्ञान मात्र को ग्रहण करती है तब स्मृति के सिवा अन्य कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता।

जैनमत-स्मृति प्रमाण है। इस बात को मात्र जैन दर्शन ही मानता है। इसके लिए जैनशास्त्र में अनेक विवेचन मिलते हैं। समकालीन जैन-विद्वान पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने स्मृति को प्रमाण सिद्ध करने के लिए इस पर संभावित सभी आरोपों को सामने रखा है और उनका खंडन किया है।[७] स्मृति प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित दोषों की संभावनाएँ हैं--

(१) गृहीतग्राही ज्ञान का निरूपण-यह कोई नया ज्ञान नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देती है। भूतकाल में जो ज्ञान प्राप्त हो चुके हैं उन्हीं को प्रस्तुत करती है। इसलिए इसे प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

(२) **विशेष विषय का अभाव**-इसमें कोई विशेष विषय नहीं होता, ऐसा भी दोषारोपण इस पर हुआ है।

(३) **अतीत की वस्तु को विषय बनाना**-अतीत की वस्तु जिसे वर्तमान में असत् माना जाता है, स्मृति ग्रहण करती है। जिसकी सत्ता नहीं है उसे ग्रहण कैसे किया जा सकता है ?

(४) **अर्थ से उत्पन्न नहीं होना**-जिस समय स्मृति होती है, उस समय कोई उत्पादक वस्तु नहीं होती। यह भी एक दोष इसके बताया किया गया है।

(५) **स्मृति भ्रान्तिपूर्ण है**-क्योंकि इससे कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता है।

(६) **संशयदोष के खण्डन की असमर्थता**-यह किसी संशय को मिटाने में समर्थन नहीं होती है।

(७) **प्रयोजनहीनता**-इससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, ऐसा भी वे लोग मानते हैं जो इसे अप्रमाण की कोटि में रखते हैं।

स्मृति प्रमाण है-

१. **गृहीत**-ग्राही होना अप्रमाणता का लक्षण नहीं माना जा सकता। यदि गृहीत-ग्राही ज्ञान की अप्रमाणता का लक्षण माना जाएगा तब तो अनुमान भी अप्रमाण की कोटि में आ जाएगा। क्योंकि अनुमान भी पूर्व ज्ञान पर ही आधारित होता है। पूर्व ज्ञान के आधार पर ही धूम और अग्नि का संबंध माना जाता है। जिसके कारण हम धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं।

२. स्मृति का कोई विषय नहीं होता, ऐसा कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि पूर्व अनुभूत वस्तु ही स्मृति का विषय बनती है।

३. अतीत की वस्तु जिसे स्मृति अपना विषय बनाती है, भले ही वर्तमानकाल में नहीं रहती, लेकिन भूतकाल में तो रहती है, अन्यथा उसका अनुभव कैसे होता।यदि भूतकाल की वस्तु को प्रमाण का कारण अथवा आधार नहीं माना जाएगा तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण जिस वस्तु को बताता है वह एक क्षण के बाद ही समाप्त हो गई रहती है। जैसा कि बौद्धदर्शन मानता है।

४. स्मृति पर यह दोषारोपण करके कि यह किसी अर्थ से उत्पन्न नहीं होती, इसे अप्रमाण की कोटि में रखना भी गलत है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ भी तो क्षणभर में समाप्त हो जाता है। वर्तमान काल में वह नहीं देखा जाता। स्मृति को भी अप्रमाण तो नहीं कहा जा सकता है यदि प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है तो ।

५. स्मृति का जो अपना विषय है उसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। यदि किसी को स्मृति में कोई भ्रान्ति दिखाई पड़ती है तो वह उसे स्मृति का आभास कह सकता है। उस भ्रान्ति के आधार पर वह स्मृति को प्रमाण की कोटि से निकाल नहीं सकता।

६. स्मृति संशय को दूर नहीं करती, यह भी गलत आरोप है। स्मृति यदि बलवती है तो वहाँ पर संशय अथवा विपरीत आरोप का प्रश्न ही नहीं आता।

७. स्मृति से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहना तो मात्र दलील है। इसमें कोई बल नहीं है, क्योंकि स्मृति के आधार पर ही हमारे नाना प्रकार के व्यवहार होते हैं।

स्मृति पर जो विभिन्न आरोप हैं उनमें प्रधान है वर्तमान में उसके आधार का अभाव। वर्तमान में उसका कोई आधार नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। किन्तु इसके विरोध में जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से माना है कि ज्ञान का प्रामाण्य उसकी वर्तमानता पर नहीं बल्कि यथार्थता पर निर्भर करता है। वस्तु भूत, वर्तमान या भविष्य किसी भी काल की क्यों न हो यदि ज्ञान उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करता है तो वह प्रमाण है [८]। स्मृति को अप्रमाण मानने वालों ने दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है कि स्मृति उस वस्तु को अपना स्रोत मानती है जो नष्ट हो चुकी है, जैसा कि ऊपर देखा गया है। इस संबंध में डा. मेहता ने लिखा है [९]।

'जैन दर्शन पदार्थ को ज्ञानोत्पत्ति का अनिवार्य कारण नहीं मानता...। ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न होता है। पदार्थ अपने कारणों से उत्पन्न होता है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। पदार्थ का ऐसा स्वभाव है कि वह ज्ञान का विषय बन सकता है। पदार्थ और ज्ञान में कारण और कार्य का संबंध नहीं है। उनमें ज्ञेय और ज्ञाता, प्रकाश्य और प्रकाशक व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का संबंध है। इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब तथ्यों को देखते हुए स्मृति को प्रमाण मानना युक्ति संगत है--[१०]।'

इस तरह जैन-विचारकों ने सब तरह से स्मृति को प्रमाण माना है। भले ही इसे प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में न रखकर परोक्ष प्रमाण की ही कोटि में क्यों न रखा जाए।

प्रत्यभिज्ञान

संकलन-ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसमें प्रत्यक्ष और अतीत से प्राप्त ज्ञानों का संकलन होता है। इसे परिभाषित कहते हुए माणिक्यनन्दी ने कहा है[११]--

''दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्'' 3/5

अर्थात् दर्शन और स्मरण के कारण जो ज्ञान संकलित रूप में प्राप्त होता है वही प्रत्यभिज्ञान है। यहाँ दर्शन से मतलब है प्रत्यक्ष बोध। इस संकलन-ज्ञान के मुख्यतः चार प्रकार होते हैं[१२]--

'तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि-'3/5

अर्थात्, एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी आदि प्रत्यभिज्ञान के प्रकार के रूप में जाने जाते हैं। प्रमाण-मीमांसा में भी कहा गया है [१३]-- दर्शनस्मरणसंभवतदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्वादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम्'

अर्थात्, आचार्य हेमचन्द्र ने माणिक्यनन्दी के प्रत्यभिज्ञान संबंधी विचार को अक्षरशः मान लिया है।

प्रत्यभिज्ञान के प्रकार--

(१) **एकत्व**-यह वही लड़का है, जिसे कालेज में देखा था। यह वर्तमान में प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को इंगित करता है तथा वही अतीत काल में ग्रहण होने वाले ज्ञान की याद दिलाता है। इस प्रकार इसमें वर्तमान ज्ञान तथा भूतज्ञान का एकत्व देखा जाता है।

(२) **सादृश्य**-गाय की तरह ही नीलगाय होती है। इस जानकारी के बाद जब कोई व्यक्ति जंगल में जाता है और वहाँ एक ऐसे पशु को देखता है जो गाय की तरह है तो वह समझ जाता है कि यह नीलगाय है। यहाँ पर देखा जाने वाला पशु प्रत्यक्ष अर्थात् वर्तमान का ज्ञान देता है और गाय और नीलगाय की सादृश्यता का वर्णन भूतकाल से स्मृति के रूप में आता है। इस संकलन में सादृश्यता आधार है।

(३) **वैसादृश्य**-घोड़े से हाथी विलक्षण होता है। ऐसा जानने के बाद कोई व्यक्ति जब पशुशाला में जाता है और घोड़े के अतिरिक्त वह कुछ ऐसे पशुओं को भी देखता है जो घोड़े से विलक्षण मालूम पड़ते हैं तो वह तुरंत समझ जाता है कि विलक्षण दिखाई देने वाला हाथी ही है। इस संकलन-ज्ञान में वैसादृश्यता आधार है।

(४) **प्रतियोगी**-अभी किसी ने वाराणसी से इलाहाबाद की दूरी पार की है। बहुत पहले वह वाराणसी से कलकत्ता गया था, जिसकी दूरी अधिक है और इस समय याद आ रही है। अतः वह कहता है वह इससे दूर है अर्थात् कलकत्ता से वाराणसी की दूरी वाराणसी से इलाहाबाद की दूरी से अधिक है। यह उससे छोटा है अथवा यह उससे बड़ा है-ऐसा भी हम कहते हैं। इन सभी में प्रतियोगिता को आधार माना गया है।

मुनि नथमलजी ने लिखा है[१४]-- 'प्रत्यभिज्ञान में दो अर्थों का संकलन होता है और उसके तीन रूप होते हैं--(१) प्रत्यक्ष तथा भूतकालीन ज्ञान की स्मृति (२) दो प्रत्यक्ष बोधों का संकलन तथा (३) दो स्मृतियों का संकलन। ये रूप इस प्रकार है--

१. प्रत्यक्ष-स्मृति-संकलन--

(क) यह वही व्यक्ति है।

(ख) यह उसके समान है।

(ग) यह उससे विलक्षण है, अर्थात् उसके समान नहीं है।

(घ) यह उससे छोटा अथवा मोटा है।

२. प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष संकलन--

(क) यह कलम इस कलम के समान है।

(ख) यह जानवर इस जानवर से विलक्षण है।

(ग) यह लड़का इस लड़के से छोटा है।

३. स्मृति-स्मृति संकलन--

(क) वह कपड़ा उस कपड़े जैसा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) वह जानवर उस जानवर से विलक्षण है।

(ग) वह व्यक्ति उस व्यक्ति से छोटा है।

इन रूपों में प्रथम जिसमें प्रत्यक्ष और स्मृति के संकलन हैं पूर्व मान्यता का समर्थन करता है, किन्तु अन्य दो रूप जिनमें क्रमशः प्रत्यक्ष के साथ प्रत्यक्ष के तथा स्मृति के साथ स्मृति के संकलन हैं, पूर्व मान्यता से भिन्न प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि इन दोनों रूपों में संकलित होने वाले दो ज्ञानों के बीच मात्र पूर्व और पर को ही विचार के अंतर्गत रखा गया है।

जैनेतर मान्यताएँ

जैनदर्शन के अतिरिक्त बौद्ध, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में भी प्रत्यभिज्ञान पर किसी न किसी रूप में विचार किया गया है, जो इस प्रकार है-

बौद्ध दर्शन-इस दर्शन में क्षणभंगवाद की जो मान्यता है उससे हम लोग परिचित हैं। जब प्रत्येक वस्तु हर क्षण बदलती रहती है तो यह वही है इसे कैसे ग्रहण किया जा सकता है। इसके अलावा यह और वह दो ज्ञानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह वर्तमान के प्रत्यक्ष ज्ञान को बताता है तथा वह भूतकालीन ज्ञान को इंगित करता है। ये दोनों ज्ञान के अलग-अलग प्रकार हैं। फिर दोनों को संकलित करके एक नाम के अंतर्गत कैसे लाया जा सकता है ?

न्याय तथा मीमांसा-ये दोनों ही दर्शन प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत स्थान देते हैं। यह वही है। इसमें यह वर्तमान को बताता है तथा वह भूत को प्रस्तुत करता है। किन्तु दोनों के बीच जो एकत्व है वह स्मरण के संयोग से जाना जाता है। उस एकत्व का बोध भी तो इंद्रिय से ही होता है। अतः यह प्रत्यक्ष बोध है। यद्यपि जयंत भट्ट ने यह माना है कि स्मरण और प्रत्यक्ष के बीच जो एकत्व का संकलन करता है वह एक स्वतंत्र मानस ज्ञान है, किन्तु उन्होंने भी इसे अलग से प्रमाण नहीं माना है।[१५]

जैनमत- जैन-दर्शन उन विचारों का खण्डन करता है जो प्रत्यभिज्ञान के विरोध में दिए गए हैं। बौद्ध दर्शन ने क्षणभंगवाद को मानने के कारण प्रत्यभिज्ञान का खंण्डन किया है। किन्तु इसके लिए जैन-चिंतकों का कथन है कि मात्र क्षणभंगवाद को मानकर चलने से कोई भी व्यवहार संभव नहीं है। जिसने कर्ज लिया था, उसी से कर्ज वसूली होती है। जिसने गलती की थी, उसी को सजा दी जाती है, जो बंधन में था वही साधना करके मुक्त होता है। इन सब व्यवहारों में भूत और वर्तमान का एकत्व ज्ञान होता है। ये व्यवहार प्रत्यभिज्ञान के समर्थक माने जा सकते हैं।

न्याय और मीमांसा ने प्रत्यभिज्ञान में संकलित भूत और वर्तमान के एकत्व को इंद्रियजन्य मानकर उसे मात्र प्रत्यक्ष का विषय माना है [१६]। इंद्रियाँ केवल अपने विषय को ग्रहण करती हैं। इंद्रियों का विषय अलग-अलग होता है। किसी के सहयोग से कोई भी इंद्रिय किसी अविषय को ग्रहण नहीं कर सकती है। स्मरण की सहायता से नेत्र गन्ध को ग्रहण नहीं कर सकता, त्वचा से रस का बोध नहीं हो सकता। अतः न्याय तथा मीमांसा का यह मानना कि प्रत्यभिज्ञान मात्र प्रत्यक्ष है गलत है। जयंत भट्ट ने तो इसे एक स्वतंत्र मानस ज्ञान माना ही है।[१७]

इतना ही नहीं बल्कि न्याय और मीमांसा दोनों ने ही उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना है[१८]। गाय की तरह नीलगाय होती है ऐसी जानकारी के बाद कोई व्यक्ति जंगल में जाता है और ऐसा कोई जानवर वह देखता है जो गाय की तरह ही है तो वह समझ जाता है यह नीलगाय है। जैनमत में यह सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान है। यदि न्याय तथा मीमांसा दर्शन सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित कर सकतें हैं तो उनका प्रत्यभिज्ञान के अन्य प्रकारों के प्रति भी कोई विरोध नहीं होना चाहिए। किन्तु प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के सभी प्रकारों को अलग-अलग नामों से निरूपित करने के बजाय अच्छा है कि सबको एक नाम के अंतर्गत मान्यता दी जाए और प्रत्यभिज्ञान को एक स्वतंत्र प्रमाण मान लिया जाए।

तर्क

तर्क (तर्क + अच्) शब्द के लिए प्रायः युक्ति, वाद-विवाद, संदेह, आकांक्षा, कारण आदि शब्द प्रयोगदेखे जाते हैं। अभिधानराजेन्द्र कोष[१९] में तर्क, तर्कना, विचार, विमर्श, पर्यावलोचना आदि शब्दों को पर्यायवाची बताया गया है। हलायुधकोष[२०] में तर्क, आकांक्षा, हेतु, ज्ञान आदि शब्दों को समानार्थक समझा गया है। उपनिषद्, मनुस्मृति, महाभारत, आचारांग आदि प्राचीन ग्रंथों में तर्क शब्द के प्रयोग मिलते हैं।

कठोपनिषद्[21]-- नैषा तर्केण मतिपनेया ति। ।.....द्वितीयावल्ली।[9]

मनुस्मृति[22]-- आर्षधर्मोपदेशं च वेदशा स्त्र विरोधिना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्तर्केणनुसन्धते स धर्मं वेद नेतरम्॥12/106

जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृतिशास्त्रों को वेदानुकूल तर्क से विचारता है, वह धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं।

महाभारत[२३]- शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुति -स्मृति म्--

-शुष्क तर्क को त्यागकर श्रुति एवं स्मृति का अनुगमन करना चाहिए।

आचारांग[२४]-- तक्का जत्थ व विज्जई।

कठोपनिषद् की उक्ति से ऐसा लगता है कि तर्कवाद विवाद है जिसके आधार पर किसी मत का खंडन हो सकता है, उसे त्यागा जा सकता है। स्मृति में उस तर्क को मान्यता दी गई है जो वेदानुकूल हो। महाभारत में जो कुछ भी कहा गया है उससे यह ज्ञात होता है कि जो विचार या तर्क व्यक्ति को श्रुति और स्मृति से अलग रखता है वह शुष्क है और त्याज्य है।

बौद्ध दर्शन - इसके अनुसार तर्क प्रमाण की कोटि में नहीं आता, क्योंकि वह प्रत्यक्षपृष्ठभावी है। यद्यपि वह व्याप्तिग्राहक होता है, किन्तु प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किए हुए ज्ञान को ग्रहण करता है। इसलिए प्रमाण नहीं माना जा सकता।[२५]

न्याय - न्याय-दर्शन ने अपनी तत्त्वमीमांसा में सोलह पदार्थों को मान्यता दी है। उनमें से आठवाँ पदार्थ तर्क है। इसके विषय में कहा गया है--तर्क उस उक्ति को कहते हैं जिसमें किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिए उसकी विपरीत कल्पना के दोष दिखलाए जाते हैं। यह एक प्रकार का ऊह (कल्पना) है। इसलिए यह प्रमाणों के अंदर नहीं आता। लेकिन यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में यह बड़ा सहायक होता है [२६]। न्यायभाष्य में स्पष्ट लिखा है--

'तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रभाणानामनुग्राहकस्तत्वज्ञानाय कल्पते' 27- 1/1/9

अर्थात्, तर्क प्रमाण में संग्रहीत नहीं है और न तो इसे प्रमाणान्तर ही मान सकते हैं, बल्कि यह प्रमाणों का अनुग्राहक है और तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी है। तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक इसलिए माना जाता है कि इससे ही अनुमान आदि प्रमाणों की भूमिका तैयार होती है।

मीमांसा-इस दर्शन में तर्क के लिए ऊह शब्द का प्रयोग हुआ है।[२४] ऊह के तीन प्रकार होते हैं--(१) मंत्र-संबंधी, (२) साम-संबंधी तथा (३) संस्कारसंबंधी। न्यायदर्शन की तरह मीमांसादर्शन भी मानता है कि ऊहकी गणना प्रमाणों में नहीं हो सकती, यद्यपि यह प्रमाणों का सहायक है। तर्क के विषय में जयन्त भट्ट ने कहा है कि दो विरोधी पक्षों में से एक को शिथिल करके दूसरे को अनुकूल कारण के आधार पर सुदृढ़ बनाना ही तर्क का काम है [२९]। जैन-ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में भी ऊह शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें कहा गया है[३०]- ईहा ऊहः तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्। १/१५

अर्थात्-ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा तथा जिज्ञासा में कोई भी अंतर नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन-पाश्चात्य दर्शन में तर्क के लिए लॉजिक (Logic) शब्द आया है। तर्क को शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय ग्रीक दार्शनिक अरस्तू को प्राप्त है। तर्क को बुद्धि का विज्ञान (Science of Reasoning) अथवा चिंतन की विधियों का विज्ञान (Science of the Lows of Thought) कहते हैं [३१]। अरस्तू के अनुसार तर्क का प्रमुख सिद्धान्त है - निगमन (Deductive)-

जैनदर्शन-तर्क को परिभाषित करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी तथा आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है[३२] - उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानसमूहः। उपलम्भ तथा अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्तिज्ञान प्राप्त होता है, उसे तर्क कहते हैं। उसकी दूसरी संज्ञा ऊह भी है।

(१) उपलम्भ-लिंग के सद्भाव से साध्य का सद्भाव। धूम लिंग है तथा अग्नि साध्य। धूम के होने से अग्नि का होना जाना जाता है। अर्थात् धूम देखने से अग्नि का ज्ञान होता है।

(२) अनुपलम्भ-साध्य के असद्भाव से लिंग का असद्भाव। अग्नि के न रहने पर धूम का न रहना।

अविनाभावः-दो वस्तुओं के बीच जो अविनाभाव संबंध होता है, उसे तर्क ग्रहण करता है। अविनाभाव पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है [३३]-

सहक्रमभाविनो सहक्रभावनियमोऽविनाभावःऊहात् तन्निश्चयः -२/१०-११- अर्थात् दो वस्तुओं में जो सहभाव और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमभाव होते हैं उन्हें ही अविनाभाव कहते हैं। सहभाव उसे कह.. हैं जब दो वस्तुएँ हमेशा एक साथ देखी जाती हैं और क्रमभाव उसे कहते हैं जब दो घटनाएँ हमेशा ही क्रम में देखी जाती हैं अर्थात् एक के होने पर दूसरी उसके बाद अवश्य घटती है। सहभाव के दो प्रकार होते हैं--(१) सहकारी संबंध-जैसे रूप रस का एक साथ पाया जाना। (२) व्यापत और व्यापक संबंध जैसे छात्रत्व और मनुष्यत्व।

क्रमभाव के भी दो प्रकार होते हैं--(१) पूर्ववर्ती और परवर्ती के बीच का क्रमभाव जैसे- रविवार के बाद सोमवार का आना। (२) कार्य-कारण संबंध जैसे धूम और अग्नि का संबंध।

व्याप्ति-व्याप्तिज्ञान को जैनदर्शन में तर्क कहा गया है [३४]। अतः यह समस्या उठती है कि व्याप्ति क्या है। व्याप्य और व्यापक के बीच पाया जाने वाला संबंध व्याप्ति के नाम से जाना जाता है। इसके संबंध में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है [३५]-- व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सतिभाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।

व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना तथा व्यापक के रहने पर ही व्याप्य का रहना ही व्याप्ति-संबंध है। धूम और अग्नि में व्याप्य और व्यापक का संबंध है। अतः जब धूम रहता है तो अग्नि रहती है और जब अग्नि रहती है तो धूम रहता है। धूम के बिना अग्नि के नहीं हो सकता यद्यपि कभी-कभी अग्नि होती है पर धूम नहीं होता। किन्तु धूम होने का मतलब ही होता है कि अग्नि है।

इस प्रकार उपलम्भ, अनुपलम्भ, अविनाभाव तथा व्याप्ति संबंध एक ही है, यद्यपि समझने, समझाने में इन्हें विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया जाता है। ये ही तर्क अथवा तर्क के विषय हैं। यह व्याप्ति सार्वकालिक तथा सार्वलौकिक होती है। धूम और अग्नि के संबंध को यद्यपि कोई व्यक्तिविशेष किसी समय अथवा स्थान विशेष पर देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु यह संबंध तब से है जबसे धूम और अग्नि हैं और जहाँ कहीं भी धूम तथा अग्नि होगी वहाँ यह संबंध देखा जाएगा। अतः यह सभी समय और सभी स्थान के लिए है। इसे किसी समय विशेष तथा स्थान विशेष के अंतर्गत सीमित नहीं कर सकते।

व्याप्ति और प्रत्यक्ष - व्याप्ति संबंध को प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष किसी सीमित विषय को ग्रहण करता है। इसका संबंध वर्तमान से होता है। किन्तु व्याप्ति सार्वकालिक होती है। इसलिए व्याप्ति का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता।

व्याप्ति और अनुमान-अनुमान से भी व्याप्ति का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान तो स्वयं तर्क पर आधारित होता है। तर्क द्वारा प्रतिष्ठित व्याप्ति-संबंध ही अनुमान की आधारशिला है।

अतः तर्क को प्रत्यक्ष और अनुमान के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता, यह एक स्वतंत्र प्रमाण है, ऐसा जैन चिंतक मानते हैं। जैन विचारकों के मत में तर्क का कौन सा स्वरूप है और कितना इसका महत्त्व है, उसे हम संक्षिप्त में डा. सागरमल जैन के शब्दों में समझ सकते हैं

"वस्तुतः तर्क को अन्तर्बोधात्मक ज्ञान अर्थात् प्रातिभज्ञान कहना इसलिए आवश्यक है कि उ सकी प्रकृति इंद्रियानुभावात्मक ज्ञान अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष (Empirical Knowledge or Pereception) से और बौद्धिक निगमनात्मक (Deductive inference) दोनों से भिन्न है। तर्क अतीन्द्रिय (Non-Empirical) और अति बौद्धिक (Super Rational) है क्योंकि वह अतीन्द्रिय एवं अमूर्त संबंधों (Non-empirical Relations) को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। उसके विषय हैं--जाति-उपजाति संबंध, जाति-व्यक्ति संबंध, सामान्य-विशेष संबंध, कार्य-कारण संबंध आदि। वह आपादान (Implication), अनुवर्तिता (Entailment), वर्ग सदस्यता (Class-Membership), कार्य-कारणता (Causality) और सामान्यता (Universality) का ज्ञान है।"

जैन दर्शन में तर्क तथा व्याप्ति की एक और विशेषता यह बताई गई है-"व्याप्ति ग्रहण करने वाले योगीव प्रमाता।"

अर्थात् जिस समय प्रमाता व्याप्ति का बोध करता है, वह योगी के समान हो जाता है, क्योंकि सार्वकालिक और सार्वलौकिक वस्तु को योगी के सिवा अन्य कोई ग्रहण नहीं कर सकता। अतः व्याप्ति-ग्रहण की अवस्था योगावस्था है।

समीक्षा-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तथा तर्क-संबंधी विभिन्न विचार-विमर्शों को देखने के बाद जैन-दर्शन के संबंध में जो सामान्य धारणा बनती है, वह इस प्रकार है--अन्य दर्शन स्मृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रमाण की कोटि में नहीं रखते हैं। किन्तु जैन-दर्शन इसे प्रमाण मानता है। अपने मत की पुष्टि के लिए जैन-दर्शन जो कुछ कहता है उसमें व्यावहारिकता भी एक है। व्यवहार में स्मृति को अच्छा स्थान प्राप्त है। स्मृति के बिना व्यवहार नहीं चल सकता और जो सिद्धान्त व्यवहार को छोड़कर चलेगा, वह निश्चित ही कमजोर होगा। अतः स्मृति की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए व्यवहार को आधार मानना उचित जान पड़ता है। प्रत्यभिज्ञान भी एक स्वतंत्र प्रमाण है। इसकी आंशिक पुष्टि तो न्याय, मीमांसा आदि करते ही हैं। जब वे उपमान को प्रमाण मान लेते हैं। विवेचन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञान का ही सादृश्य लक्षण उपमान के नाम से जैनेतर दर्शनों में प्रतिष्ठित है। अतः प्रयभिज्ञान को पूर्णरूपेण प्रमाण मानना गलत नहीं कहा जा सकता। तर्क के विषय में जैन एवं जैनेतर सभी दर्शन अधिक जागरुक मालूम पड़ते हैं। जैनमत में व्याप्तिज्ञान ही तर्क है। व्याप्तिज्ञान की प्राप्ति के समय ज्ञानी योगी की तरह हो जाता है। ऐसा कहकर, जैन विचारकों ने तर्क को ज्ञान और प्रमाण के सामान्य धरातल से ऊपर उठा दिया है। प्रमाण की आवश्यकता साधारण व्यक्तियों के लिए होती है। योगज ज्ञान और योगियों के लिए नहीं। यदि इस रूप में ही तर्क को प्रमाण मानना है तब तो वह न्याय-दर्शन का योगज प्रत्यक्ष है ही। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-विचारकों ने तर्क या व्याप्ति-ज्ञान को योगज स्तर पर लाकर इसके साथ न्याय नहीं किया है।

संदर्भ सूची

१. प्रमाणनिर्णय, पृष्ठ ३३१
२. जैनन्याय- पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. १९३
३. परीक्षामुख- ३/३
४. प्रमाणमीमांसा-आचार्य हेमचन्द्र-१/२/३
५. आधुनिक मनोविज्ञान, लालजी राम शुक्ल
६. जैन-दर्शन- डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ २२४
७. जैनन्याय- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ १९४-१९६
८. जैनधर्मदर्शन- डा. मोहनलाल मेहता, पृ. ३१९
९. वही
१०. जैनधर्मदर्शन, पृष्ठ ३२०
११. परीक्षामुख- माणिक्यनन्दी, ३/५
१२. वही- ३/५
१३. प्रमाणमीमांसा-आचार्य हेमचन्द्रसूत्र, १/२/४
१४. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा-मुनि नथमल, पृष्ट ५८०
१५. न्यायावतार, तात्पर्यटीका, पृष्ठ १३९
१६. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४६१
१७. जैनदर्शन--महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २२८
१८. प्रसिद्धार्थसाधर्म्यार्थ साध्यसाधनमुपमानम्--न्यायसूत्र १/१/६।
१९. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-४, पृ. २१६९
२०. हलायुधकोश-जयशंकर जोशी, पृ. ३२२
२१. कठोपनिषद्-द्वितीयावल्ली-९
२२. मनुस्मृति-१२/१०६
२३. महाभारत ३/१९९/१०८
२४. आचारांगसूत्र--
२५. जैनदर्शन-महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २३२
२६. भारतीय दर्शन-चट्टोपाध्याय एवं दत्त, पृष्ठ १७५
२७. न्यायदर्शन (भाष्य) - १/१/९
२८. मीमांसा दर्शन-शाबभाष्य- ९/१/१
२९. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५८६
३०. तत्वार्थाधिगमभाष्य-१/१५
३१. Elementary Lessoons in Logic - W.S. Jevons, Page-1
३२. परीक्षामुख- ३/११ तथा प्रमाणमीमांसा- १/२/५
३३. प्रमाणमीमांसा--आचार्य हेमचन्द्र- २/१०-११
३४. जैनधर्मदर्शन- डा. मोहनलाल मेहता, पृ. ३२३
३५. प्रमाणमीमांसा- १/२/६
३६. (अ) जैनदर्शन में तर्कप्रमाण का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन- डा. सागरमल जैन, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २४, अक्टूबर १९७८, अंक-४, पृ. १९३-१९४,
A modern Introduction of Indian logic-SS Barlinga Page-123-125

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org